E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi

गीता का सामान्य परिचय

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

भारतीय अध्यात्मचिन्तन के प्राणभूत, वैदिक संस्कृति के सारस्वरूप गीता की महता वागातीत है। गीता के सात सौ श्लोकों में वेदों का सार वर्णित है। इसकी भाषा जितनी सरल है, भाव उतने ही अधिक गम्भीर हैं। गीता की महत्ता बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा-'गीता मे हृदयं पार्थ'।गीता के सन्दर्भ में एक प्रचलित गाथा के अनुसार व्यासजी ने अट्ठारह पुराण, नौ व्याकरण और चारो वेदों का मन्थन कर महाभारत की रचना की। उस महाभारतरूपी सागर का मन्थन करने से गीता प्रकट हुई और उस गीता का सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्ण ने धनुर्धर श्री अर्जुन के मुख में डाल दिया-

"अष्टादशपुराणानि नव व्याकरणानि च।
निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारते कृतम्।।
भारतो दधि निर्मथ्य गीता निर्मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे धृतम्"।।

गीता महाभारत का सारतत्त्व है। गीता की प्रमुख विशेषता यह है कि वाक्यप्रमाण की अपेक्षा वैयक्तिक अनुभूति पर यह अधिक बल देती है। यह सच है कि इसमें भी अनुष्ठान, कर्मकाण्ड या पौराणिक गाथायें हैं, किन्तु उनके सम्पूर्ण आयाम का नियन्त्रण करने वाली आधारभूत धारणा मानवीय चेतना का जागरण है। गीता के सात सौ श्लोकों के अभ्यन्तर निःश्रेयस् का मार्ग प्रशस्त कर दिया गया है। गीता का उद्देश्य उपलब्ध विभिन्न सिद्धान्तों में बौद्धिक एकरूपता कायम करना नहीं है और न ही कर्मकाण्डीय पवित्रता है। गीताधर्म का अभिप्राय मानवमात्र का आत्मोत्थान है; केवल तात्त्विक विचार परिवर्त्तनमात्र नहीं। गीता साम्प्रदायिकता के दलदल से दूर है। यह किसी भी सम्प्रदायविशेष का मान्य ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत संस्कृत साहित्य का लोकमान्य अनमोल रत्नभूत एक धार्मिक ग्रन्थ है।

गीता विद्या द्वारा अविद्या को स्थानच्युत करती है। विद्या या बोधि की यह उपलब्धि मानव-जीवन में अभिनव शक्ति एवं आत्मनिष्ठा उत्पन्न करती है।

गीता यथार्थतः एक ऐसा धर्मग्रन्थ है, जिसमें सभी सप्रदायों की विचारधारा का समन्वयात्मक समावेश है। इसमें धर्म, दर्शन और नीति की त्रिवेणी लहराती है। इसका चिन्तन व्यापक है। यह सत्य की सिद्धि का सहकारी साधन है। यह आत्मज्ञान के अनेक गूढ रहस्यों का परिचायक है। आध्यात्मिक तत्त्वों का यह एक संकलन है। इस ग्रन्थरत्न के चिन्तन-मनन से मानवमन परिष्कृत हो जाता है। उसकी अन्तः प्रकृति परिवर्त्तित हो जाती है, अन्तर्मुख आयाम में लीन हो जाती है। इसी जगत् में मानवमन सुख-शान्ति का अनुभव करता है। कहीं कोई तनाव नहीं, खिंचाव नहीं। हर जगह सामञ्जस्य की अनुभूति होती है। सभी प्राणियों में एक ही सत्ता का अविनाशी अंश दीखने लगता है। हृदय परिवर्तित हो जाता है। इच्छाशक्ति समग्र रूप से परिष्कृत हो जाती है। अन्तःकरण प्रभावित हो उठता है।

गीता एक ऐसी ज्ञानगङ्गा है, जिसकी विचारधारा में समस्त आध्यात्मिक सत्य और उसकी सहज अनुभूतियों की लहरें स्पष्टतः हमें परिलक्षित होती हैं। गीता में दिव्य कर्म, दिव्य भक्ति और दिव्य ज्ञान की त्रिवेणी एक साथ लहराती है। हठयोग और राजयोग हाथ में हाथ डालकर एक साथ अपने गुह्य रहस्यों के साथ हमारे मनमन्दिर में अपना आसन जमा लेते हैं। इसके प्रवक्ता या उपदेष्टा एक कर्मयोगी, तपस्वी, महात्मा, राजनेता तथा वैदिक धर्म के संस्कर्त्ता महापुरुष श्रीकृष्ण हैं। वे कहते हैं कि धरती पर जब भी और जहाँ भी धर्म का पतन होता है और अधर्म की प्रधानता होने लगती है, तब मैं अवतार लेता हूँ–

“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्”।।

गीता का प्रथम श्लोक है-

“धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय”।।

अन्तिम श्लोक है-

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिः ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम"।।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्रीमद्भगवद्गीता का प्रारम्भ 'धर्म' शब्द से होता है और समापन 'मम' शब्द से। अर्थात् 'मम धर्म'='मेरा धर्म' इन्हीं दो शब्दों में गीता सम्पुटित है। अगर धर्म का अर्थ कर्तव्य है तो सीधा अर्थ हुआ कि मेरा कर्तव्य क्या है? धनुर्धर अर्जुन को कर्तव्य का उपदेश ही तो गीता है। एक विलक्षण और विशिष्ट परिस्थिति में श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश अर्जुन को दिया है।

1. **गीता का अध्यात्मपक्ष-**

क) ब्रह्मतत्त्व- गीता में ब्रह्मतत्त्व का अन्वेषण एक आध्यात्मिक अनुसन्धान है। ब्रह्म हमारी निष्ठा या विश्वास की एक तार्किक परिणति है। यह व्यक्ति की एक स्थिति की भव्य अनुभूति है। यह सहज अनुभूति स्फूर्ति, तर्क और विवेक द्वारा समर्थित है। यहाँ ज्ञान-विज्ञान एक साथ चलते हैं। हमारा लक्ष्य 'ज्ञान-विज्ञानसहितम्' है-

"इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्"।।

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति और पुरुष को अनादि तत्त्व कहा गया है। यथा-'प्रकृतिं पुरुषश्चैव विद्ध्यनादी उभावपि'; किन्तु इन दोनों से परे सबका मूलभूत एक तत्त्व है, जिसे पुरुषोत्तम कहा जाता है-'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'। प्रकृति और पुरुष इस परम तत्त्व की दो विभूतियाँ हैं। गीता में प्रकृति, पुरुष और पुरुषोत्तम-इन तीनों तत्त्वों को जगत्, जीव और परब्रह कहा गया है। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष को अनादि, स्वतन्त्र और स्वयम्भू कहा गया है; किन्तु गीता में इन्हें अनादि होते हुए भी स्वतन्त्र एवं स्वयम्भू नहीं बताया गया है। यहाँ श्रीकृष्ण ने प्रकृति को अपनी माया और पुरुष को अपना अंश कहा है-'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' तथा 'ममैवांशो जीवलोके

जीवभूतः सनातन'। गीता के अनुसार प्रकृति सृष्टि के लिए स्वतन्त्र नहीं है, वह ईश्वर के अधीन रहकर अपना कार्य करती है। यथा-**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'।**

ख) पुरुष या जीवतत्त्व- गीता ईश्वर के व्यापक रूप, जगत् के परम तत्त्व, जीव-जन्तु चैतन्यात्मक के आधार-तत्त्व की अनेकशः व्याख्या करती है। तदनुसार पुरुष के दो रूप बतलाये गये हैं- क्षर और अक्षर। भौतिक जगत् के प्रत्येक जीव अर्थात् जड़ पदार्थ, अपरा प्रकृति को 'क्षर' कहते हैं तथा अविनाशी कूटस्थ पुरुष एवं परा प्रकृति को 'अक्षर' कहते हैं-

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते"।।

परा प्रकृति अर्थात् ईश्वर की इस उत्कृष्ट विभूति को 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है। क्षेत्र का अर्थ 'खेत' होता है अर्थात् खेत का जानकार क्षेत्रज्ञ कहलाता है। यहाँ क्षेत्रज्ञ आत्मा को कहा गया है। क्षेत्र शरीर है। आपादमस्तक शरीर का ज्ञाता आत्मा ही है। गीता के विभिन्न अध्यायों में षड्विकारशून्य आत्मा का विविध रूप में वर्णन है। गीता का दूसरा अध्याय आत्मा के वर्णन से ही भरा पड़ा है। इस परिवर्तनशील जगत् में व्याप्त विश्वात्मा को 'क्षर पुरुष' और कूटस्थ विश्वातीत आत्मा को 'अक्षर पुरुष' कहते हैं।

ग) जगत्तत्व-प्रकृति के माध्यम से संसृति की उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि का मूल कारण परमपिता परमात्मा ही है। जगत् तत्त्व के सम्बन्ध में गीता का कथन है-

"बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्"।।

धरती पर चौरासी लाख चर-अचर योनियों में सबके जीवन के बीजस्वरूप परमात्मा है। इस कथन की सम्पुष्टि वैदिक साहित्य से भी होती है। इसके अनुसार ब्रह्म या परम सत्य वह है, जिससे सृष्टि की समग्र वस्तु समुद्भूत है। परमात्मा ही इस जगत् का मूल है। समस्त वृक्ष का पालन-पोषण उसकी जड़ पर निर्भर करता है। नीति भी कहती है-छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्। ठीक इसी तरह समस्त जगत् के प्राणियों का पालन कर्त्ता एकमात्र मूलभूत परमात्मा ही तो है। परमात्मा ही प्राणियों के जीवन

का लक्ष्य है। वे ही इनके पालक, स्वामी, साक्षी, धाम, शरणस्थली तथा अत्यन्त प्रियसखा हैं। सृष्टि और संहार में सबके जीवन का आधार हैं। सारे प्राणियों के जीवन का आश्रय और अविनाशी बीज वही हैं-

"गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्"।।

तात्पर्य यह है कि वृक्ष से जैसे बीज उत्पन्न होता है और फिर उसी में लीन हो जाता है, ठीक उसी तरह परमात्मा से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है और उसी में फिर वे लीन हो जाते हैं। मानवीय गणना के अनुसार एक हजार युग मिलकर ब्रह्मा का एक दिन बनता है और इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि भी होती है। ब्रह्मा के दिन के शुभारम्भ में सारे जीव अव्यक्तावस्था से व्यक्त होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि प्रारम्भ होते ही पुनः असहाय की तरह अव्यक्त में विलीन हो जाते हैं-

"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे"।।

2. गीता का व्यवहारपक्ष-समन्वयात्मकता

गीता के समन्वयात्मक सन्देश का क्षेत्र सार्वभौम है। यह हमारे व्यावहारिक जीवन का दार्शनिक आधार है। भारतीय समाहारी संस्कृति की यह एक संश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति है। गीता का रचयिता आध्यात्मिक समालोचक न होकर सर्वग्राही है। वह न तो किसी सम्प्रदाय का समादेष्टा है और न ही सम्प्रदायविशेष का संस्थापक। गीता के माध्यम से उसने मनुष्यमात्र के लिए उनके व्यावहारिक जीवन का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

गीता का अध्यात्मपक्ष जितना गम्भीर, यथार्थपरक और विश्लेषणात्मक है, इसका व्यवहारपक्ष भी उतना ही तत्त्वपरक, समन्वयात्मक तथा संश्लेषणात्मक है। गीता के जन्मकालिक परिस्थितियों पर थोड़ा गौर से देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका चरम लक्ष्य जीवन में व्यावहारिक शिक्षा

देना है। स्पष्टतः इसका मुख्य प्रयोजन जीवन की व्यावहारिक समस्या को हल करना तथा न्यायोचित आचरण को प्रेरणा देना है।

3. **गीता का कर्मयोग-**

मनुष्य विभिन्न तत्त्वों का एक आकार है। यही कारण है कि चाहकर भी मनुष्य एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय नहीं रह सकता है। कर्म तो उसकी विवशता है। प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है। अतः गीता के अनुसार कोई व्यक्ति क्षण भर के लिए भी निष्क्रिय नहीं रह सकता, यह उसकी विवशता है-

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः"।।

अपने कर्म से ही मनुष्य सर्वोच्च सत्ता तक पहुँच सकता है। अतः उसे कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है। अगर वह कर्म न करें तो फिर उसके शरीर का निर्वाह भी सम्भव नहीं है-

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः"।।

गीता के अनुसार प्रत्येक 'कर्म' के पाँच कारण होते हैं। अतः सारे कर्मों का स्थान अर्चस् (शरीर), कर्त्ता, विभिन्न इन्द्रियाँ, अनेक प्रकार की चेष्टायें तथा परमात्मा-ये पाँच कर्म के कारण हैं-

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्"।।

कर्म करने का अधिकार तो सबको है; किन्तु उस कर्म के फल का व्यक्ति अधिकारी नहीं हो सकता। किसी भी व्यक्ति को कभी भी अपने कर्मफल का अपने-आपको कारण नहीं मानना चाहिए और न कभी कर्म न करने के प्रति आसक्ति ही दिखलानी चाहिए। तात्पर्य यह कि फलाकांक्षा तथा कर्म-कर्तृत्व के अभिमान का त्याग करना चाहिए, साथ ही सम्पूर्ण कर्म का ईश्वरार्पण होना चाहिए-

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि"।।

कहने का तात्पर्य यह है कि आसक्ति छोड़कर जो कर्म करता है, उसे किसी तरह के अनिष्ट की आशंका नहीं रहती है। गीता का यह मान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य को फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करना चाहिए। कुछ विद्वानों ने काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहा है; किन्तु गीता की दृष्टि में सब कर्मों के फल का त्याग ही संन्यास है। कर्त्ता को कर्तृत्व का अभिमान छोड़कर केवल कर्म करना चाहिए; क्योंकि समस्त जीव अव्यक्त प्रकृति के गुणों के वशवर्ती हैं। विवश मनुष्य इन्हीं गुणों के अधीन इच्छा-अनिच्छापूर्वक कर्म करते हैं। फिर कर्तृत्व का अभिमान कैसा? अतः गीता की दृष्टि में भौतिक इच्छा पर आधारित कर्मों के त्याग को पण्डितजन संन्यास कहते हैं तथा समस्त कर्मों के फल-त्याग को त्याग कहते हैं-

"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागो प्राहुस्त्यागं विचक्षणः"।।

मनुष्य को चाहिए कि अपना सारा कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से करे। वह जो कुछ करे, जो कुछ खाये, अर्पित करे, दान दे, तप करे, सब ईश्वरार्पण कर दे-

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्"।।

4. गीता का ज्ञानयोग

गीता में तीन प्रकार के ज्ञान की चर्चा है। इसके अनुसार किसी एक ही वस्तु को अर्थात् मात्र शरीर को हर तरह से सुखी बनाये रखने के लिए सबकुछ समझना सबसे निकृष्ट कोटि का ज्ञान अर्थात् तामसी ज्ञान कहलाता है-

"यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्"।।

इससे थोड़ा अधिक (उच्चतर) ज्ञान, वस्तुओं को अलग-अलग स्तर पर समझना राजसी ज्ञान कहलाता है अर्थात् जिस ज्ञान से मनुष्य विभिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न प्रकार का जीव देखता है, वह राजसी ज्ञान कहलाता है-

"पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्"।।

जिस ज्ञान से अनन्त रूपों में विभक्त सारे जीवों में एक ही अविभक्त आध्यात्मिक प्रकृति देखी जाती है, उसे सात्त्विक ज्ञान कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि चिन्तन के और गहरे उतरने पर समस्त प्राणियों में एक ही अविभक्त एवं अव्यय आत्मा का ज्ञान सात्त्विक ज्ञान कहलाता है-

"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्"।।

सांख्य दर्शन ने ज्ञान को मुक्ति का साधन माना है। इसने चित्-अचित्, प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान को परम ज्ञान कहा गया है; किन्तु गीता का ज्ञान इनसे भिन्न और विलक्षण है। यहाँ आत्मा की एकता की अनुभूति को ही ज्ञान माना गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभक्त से अविभक्त अर्थात् अनेकता में एकता, समस्त प्राणियों में आत्मा के एक स्वरूप को पहचानना ही सत्य-ज्ञान है। गीता की दृष्टि में वही व्यक्ति ज्ञानी है, जो हर प्राणी के हृदय में परमात्मा को उपस्थित देखता है-**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'**। बाह्य रूप से भी प्रत्येक जीव ईश्वर के शक्तिक्षेत्र में ही अवस्थित है।

'ज्ञान' की महत्ता बतलाते हुए गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि संसार में ज्ञान की तरह पवित्र और कोई वस्तु नहीं है। ऐसे ज्ञान की उपलब्धि एक साधक के समग्र साधना का प्रतिफल है। जो व्यक्ति अपनी साधना में सिद्ध हो जाता है, वह यथासमय अपने भीतर ही इस प्रज्ज्वलित 'ज्ञान' की जीवन्त अनुभूति प्राप्त करता है-

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति"।।

5. गीता और ध्यानयोग

गीता के अनुसार मनुष्य की जागरूक अन्तश्चेतना के चिन्तन की एक विशिष्ट स्थिति को 'ध्यान' कहते हैं। मानवता जितनी पुरानी है, मानव का प्रत्यक्षानुभूतिजन्य यह ध्यान भी उतना ही पुराना है।

यह ध्यान किसी एक जाति, वर्ग या धर्म में सीमित नहीं है। ध्यान की अनुभूति की सूचना केवल धार्मिक या आध्यात्मिक जगत् में ही नहीं होती, प्रत्युत कला और प्रकृति के सान्निध्य में भी होती है। ध्यानावस्थित होकर ही हम किसी अनासक्त कर्म में प्रवृत्त हो सकते हैं। ध्यान के माध्यम से किसी महान् सात्त्विक प्रेम में, सर्जनात्मक कला में, दार्शनिक चिन्तन में, अत्यधिक आनन्द या तीव्र वेदनाओं के क्षणों में जागतिक व्यवहार के क्रमिक स्पर्श से ऊपर उठकर अभेदत्व और नित्यता की विलक्षण अनुभूति के क्षेत्र में हम प्रवेश पा जाते हैं। ध्यान के इन क्षणों में जब विषय और विषयी, वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ एक अभेदावस्था में विलीन होकर एक हो जाते हैं तब हम प्रेम और घृणा, आसक्ति और अनासक्ति के परे ऐसी दुनियाँ में पहुँच जाते हैं, जहाँ पार्थिव अनुभवों की सीमा स्वतः धुंधली पड़ जाती है और काल ठहर जाता है। पार्थिव परछाइयों के पार प्रकाश की एक दुनियाँ है, जहाँ पहुँचकर मस्तिष्क के सारे उद्धत प्रश्नों का स्वतः समाधान हो जाता है। यह न तप से, न जप से, न निरग्निता से और न अक्रियता से मिलने वाली स्थिति है। इसे तो कर्म के प्रति अनासक्त कोई योगी ही प्राप्त कर सकता है-

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः"।।

6. **गीता एवं भक्तियोग-**

'भज्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगने पर 'भक्ति' शब्द का निर्माण होता है, जिसका अर्थ–वियोजन, प्रभाग तथा उपासना, अनुरक्ति या सेवाभाव होता है। इसी तरह 'योग' अर्थात् 'युज्' धातु से क्विन् प्रत्यय कर 'योग' शब्द का निर्माण होता है, जिसका अर्थ होता है- जुड़ा हुआ या सम्मिलित होना। भगवद्गीता का योग शब्द सम्बन्धवाचक है। आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध, जीव और शिव के समन्वय का सिद्धान्त 'योग' कहलाता है। भगवद्गीता का भक्तियोग सब विद्याओं का राजा अर्थात् राजविद्या कहलाता है; क्योंकि यह समस्त आध्यात्मिक सिद्धान्तों और दर्शनों का सारतत्त्व है। भक्तियोग वेदाध्ययन से प्राप्त ज्ञान एवं विभिन्न दर्शनों का सार है। यह परम गुह्य अर्थात् गोपनीय है; क्योंकि गुह्य

या दिव्य ज्ञान में आत्मा और शरीर के अन्तर को जाना जाता है। समस्त गुह्य ज्ञान की, इस राजविद्या की पराकाष्ठा है-'भक्तियोग'-

"राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्"।।